१६ कर्म-विपाक

□ श्री लालचन्द्र जैन

कर्मों के शुभाशुभ फल को सामान्यतः विपाक कहा जाता है। मिथ्यात्व आदि के सेवन से प्राणी जो कुछ कार्य करता है, उसे कर्म कहते हैं। वे कर्म जब उदय में आते हैं, तब प्राणी को जो सुख-दुःख आदि भोगने पड़ते हैं, उसे कर्म विपाक कहा जाता है। शुभ कर्म का विपाक शुभ और अशुभ कर्म का विपाक अशुभ होता है।

कर्मों को बाँधने में जीव स्वतंत्र है। वह अपनी इच्छानुसार शुभ या अशुभ कर्मों का बंध कर सकता है। जीव की बिना इच्छा के कोई कर्म कभी अपने आप नहीं बंधता। जब भी जीव राग-द्वेष की आसक्ति से कोई कार्य करता है, तब उस आसक्ति के तारतम्य के अनुसार नये कर्म बंधते हैं। वे ही कर्म जब उदय में आते हैं, तब जीव को उन कर्मों के फल को भोगना ही पड़ता है। उससे वह किसी प्रकार छूट नहीं सकता। इसीलिये कहा गया है कि जीव कर्मों को बाधने में स्वतंत्र है, पर उनके फल को भोगने में परतंत्र है। बंधे हुए कर्म यदि निकाचित हों तो करोड़ों सागरोपम समय के व्यतीत हो जाने पर भी वह कर्म नष्ट नहीं होता। संसार की सभी वस्तुएं नाशवान हैं, पर मात्र कर्म की जड़ ही ऐसी है जो कभी सड़ती-गलती नहीं। उग्र तप-संयम के बल से ही इस जड़ को उखाड़ा जा सकता है।

हिंसा, असत्य, अचौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि प्रत्येक पाप कर्म के विपाक का शास्त्रों में वर्णन है। पागलपन, कोढ़, अल्पायुष्य आदि हिंसा के भयानक विपाक हैं। यदि इस विपाक से बचना हो तो बिना प्रयोजन त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से बचना चाहिये।

खंधक मुनि के जीव ने अपने पूर्व भव में स्थावर जीव की विराधना में इतना रस लिया कि खंधक मुनि के भव में उनके जीवित शरीर की चमड़ी उतारी गई। वे तो आत्मध्यान की उच्चतम भूमि पर पहुँचे हुए थे, अतः उन्होंने उदय में आये हुए कर्मफल को समभाव से भोग लिया और मोक्ष पद को प्राप्त कर लिया। किन्तु उदयकाल में समताभाव को रखना आसान नहीं है। जिनको यह स्पष्ट ज्ञान हो गया है कि आत्मा शरीर से भिन्न है, वे ही ऐसे कठिन समय में समभाव को कायम रख सकते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

पाप कर्म कितना भी मामूली क्यों न हो पर उसमें रस की तीव्रता से उसका विपाक कितना दारुण होता है, यह खंधक मुनि के उदाहरण से ज्ञात होता है। पाप कर्म तो करना ही नहीं चाहिये पर यदि प्रमादवश वैसा आचरण हो भी जाय तो उसमें रसासक्ति कतई नहीं होनी चाहिये।

गूंगापन, मुखरोग, समझ में न आने वाली भाषा बोलना आदि असत्य भाषण के विपाक हैं। वसुराजा असत्य भाषण के पाप से नरक में गये। बात-बात में झूठ बोलने वाले, झूठी गवाही देने वाले, झूठे दस्तावेज बनाने वाले, झूठी बहियें लिखने वाले नरक निगोद के दुःख को प्राप्त करते हैं। असत्य भाषण महान् पाप का कारण है, इससे जीव सुकृत के फल को भी हार जाता है।

दुर्भाग्य, दरिद्रता, गुलामी आदि चौर्य कर्म के फल हैं। चोरी करने वाले इस जन्म में तो लाठी, घूंसे आदि खाते ही हैं, राज्य दंड स्वरूप जेल भी भुगतते ही हैं, किन्तु परभव में नरक आदि की घोर वेदना को प्राप्त करते हैं। व्यापार में अनीति का आचरण, स्मगलिंग द्वारा एक देश से दूसरे देश में माल लाना-ले जाना, ऐसे माल का क्रय-विक्रय, अच्छी वस्तु में बुरी वस्तु की मिलावट करना, अत्यधिक भाव बताना, माप-तौल में कम देना, ज्यादा लेना आदि सभी प्रकार के कार्य चोरी हैं। नीति और न्याय द्वारा किया गया विक्रय ही व्यापार है, अन्य सब तो दिन-दहाड़े लूटना है। बहुत से लोग यह दलील करते हैं कि न्याय-नीति से चलेंगे तो पेट ही नहीं भरेगा, परन्तु उनकी यह दलील थोथी है। नीति से पेट तो अवश्य भर जाता है, हाँ पेटी नहीं भरी जा सकती। पाप का मूल पेट नहीं है, लोभ ही पाप का मूल है। पेट की भूख से धन की भूख बहुत भयंकर है। लाखों, करोड़ों की सम्पत्ति हो जाने पर भी धन की भूख नहीं मिटती। शास्त्रों में इच्छा को आकाश के समान अनन्त कहा है। इच्छाओं का अन्त हो जाय तो दुःख का भी अन्त हो सकता है। सन्तोष से इच्छाओं का निरोध हो सकता है। लोभ पाप का मूल है तो सन्तोष धर्म का फल है।

नपुंसकता, दुर्भाग्य, तिर्यंच गति (पशु-पक्षी योनि) आदि अब्रह्मचर्य के फल हैं। असंतोष, अविश्वास, महारंभ आदि मूर्छारूपी परिग्रह के कटु फल हैं। परिग्रह परिमाण से अनेकों पाप रुक जाते हैं और जीवन में अनुपम शांति का अनुभव होता है। स्व पत्नी संतोष और परिग्रह-परिमाण ये दोनों नीतियुक्त जीवन की आधारशिला हैं। इनके पालन के बिना जब मनुष्य नैतिक जीवन भी नहीं जी सकता तब धर्म सिद्धि की तो बात करना ही व्यर्थ है। जैसे कुपथ्य का सेवन करने वाले पर औषधि का कोई प्रभाव नहीं होता उसी तरह अधिक

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तृष्णाग्रस्त व्यक्ति के सभी तप, जप, ध्यान, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि व्यर्थ हो जाते हैं।

एक बार आचरित सामान्य पाप कर्म का कम से कम फल दस गुणा हो जाता है और यदि उसे तीव्र रस के साथ आचरित किया गया हो तो उसका विपाक करोड़ गुणा हो जाता है। अनंतानुबन्धी कषाय के तीव्र उदय में कभी-कभी अंतर्मुहूर्त के समय में भी ऐसा कठिन कर्म बंध हो जाता है कि जीव को उसके फल को अनेक जन्मों तक भोगना पड़ता है। कई बार व्यक्ति की क्षण मात्र की भूल अनन्त संसार को बढ़ा देती है। अतः कर्म बांधते समय व्यक्ति को अत्यधिक सावधान रहना चाहिये।

अपने कुटुम्बियों के लिए अथवा अन्य किसी के लिये किये गए कर्मों का फल उदय में आने पर मात्र कर्ता को ही भोगना पड़ता है। कर्मों के कठिन विपाक भोगने के समय जीव अकेला हो जाता है। उस समय कुटुम्बियों में से कोई भी न तो उस विपत्ति से रक्षा करने में समर्थ हो सकता है और न ही दुःख में हिस्सा ही बँटा सकता है। हँसते-हँसते बाँधे गये कर्मों को उदय में आने पर रोते-रोते भोगना पड़ता है। कभी-कभी तो निकाचित बंधे हुए ये कर्म किसी भी प्रकार से नहीं छूटते। त्रिपृष्ट वासुदेव के भव में भगवान् महावीर के जीव ने शयन कक्ष के द्वारपाल के कानों में तपा हुआ शीशा डलवाया था, उसी जीव ने अपने २५वें नन्दन ऋषि के जन्म में ८० हजार से अधिक मासक्षमण के तप किये फिर भी त्रिपृष्ठ के जन्म में किये गये कर्म की सत्ता रह ही गई और महावीर के भव में ग्वाले द्वारा उनके कानों में कीलें ठोकी गईं।

इस जन्म में या अन्य किसी भी जन्म में किये गये कर्म फल कब उदय में आयेंगे, यह हम नहीं जान सकते, अनन्तज्ञानी ही इसे जान सकते हैं। पर यह तो निश्चित ही है कि अपना अबाधाकाल पूरा होने पर बँधे हुए कर्म अवश्य ही उदय में आते हैं और जीव को उन्हें भोगना ही पड़ता है। इतना तो प्रायः सभी जानते हैं कि कुछ अति उग्र पुण्य-पाप के फल जीव को वर्तमान जन्म में भी भोगने पड़ते हैं। हमारे पूर्व महापुरुषों ने अशुभ के उदयकाल में जिस धैर्य और समभाव को कायम रखा, वह वास्तव में विचारणीय है। हम तो सामान्य उदयकाल में भी हिम्मत हार जाते हैं। यदि हमें यह बात समझ में आ जाय कि हमारे स्वयं के द्वारा बांधे गये कर्म जब उदय में आते हैं तब उन्हें स्वयं हमें ही भोगना पड़ता है, तो कैसे भी शुभ या अशुभ कर्म के उदयकाल में समभाव बना रह सकता है। समभाव पूर्वक भोगे गये कर्म विपाक के द्वारा अशुभ कर्म के उदयकाल में भी जीव महान् निर्जरा को सिद्ध कर सकता है। अशुभ के उदय काल में यदि समभाव बना रह सके तो शुभ के उदय से भी अधिक निर्जरा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त हो सकती है। जो व्यक्ति शुभ कर्म के उदय के समय नम्रता और अशुभ कर्म के उदय के समय समभाव को बनाये रख सके, उसका बेड़ा पार है।

सम्पूर्ण कर्मग्रंथ का सार भी यही है कि कैसे भी अशुभ कर्म के उदयकाल में अन्य किसी पर दोषारोपण न करते हुए उदय में आये हुए कर्म विपाक को समता भाव से भोग लेना। कर्म सत्ता का न्याय सब के लिए समान है। यदि जीव कर्म बांधने के समय सावधान हो जाय तो कर्मसत्ता का कोई नियम उसको प्रभावित नहीं कर सकता। उदयकाल में हाय-हाय करने से तो दुगुणी सजा भोगनी पड़ती है। क्योंकि उदय में आये हुए कर्म विपाक के साथ आर्त्तध्यान का सम्मिलन हो जाने से अनेक नये कर्म बंध जाते हैं। अज्ञानी के कर्म क्षय का क्या मूल्य है ? वास्तविक निर्जरा तो ज्ञानी ही कर सकता है। कर्म के विपाक को समभाव पूर्वक भोग लेने से ज्ञानी को सकाम निर्जरा होती है, जबकि अज्ञानी को अकाम निर्जरा होती है। अकाम निर्जरा में बंध अधिक और निर्जरा कम होती है, जबकि सकाम निर्जरा में निर्जरा (कर्मक्षय) अधिक होती है।

ज्ञानी सम्यक्दृष्टि आत्मा अनेक जन्मों के संचित कर्मों को सम्यक् ज्ञान रूपी अग्नि में जलाकर भस्म कर देता है। इसीलिये ज्ञानी को नये कर्म नहीं बंधते, यदि बंधते हैं तो भी बहुत ही अल्प मात्रा में बंधते हैं। इस प्रकार ज्ञानी अपनी शृंखला से धीरे-धीरे मुक्त होता जाता है और एक समय ऐसा आता है जब वह अपने सम्पूर्ण कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध बुद्ध हो जाता है।

जीव जो कर्म विपाक भोगता है, वह उन-उन कर्मों के उदय में आने पर भोगता है। प्रत्येक कर्म अपने-अपने स्वभाव के अनुसार फल-विपाक देते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म के उदयकाल में जीव का ज्ञान गुण आवरित हो जाता है, जिससे वह कुछ भी लिख पढ़ नहीं सकता। इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म का उदय जीव के दर्शन गुण (देखने की शक्ति) को ढँक देता है। वेदनीय कर्म सुख-दुःख का अनुभव करता है। इसके उदय में सुख के साधन विद्यमान होने पर भी जीव सुख का अनुभव नहीं कर सकता। कोई भी कर्म अन्य कर्म के स्वभावानुसार विपाक न देकर स्वयं अपने स्वभाव के अनुसार ही कर्म फल देता है। सामान्यतः कर्मफल को भोगने में मुख्य हेतु उस कर्म का उदय काल ही होता है, पर द्रव्य, क्षेत्र आदि बाह्य सामग्री भी उसके भोग को प्रभावित करती है। जैसे किसी को गाली देने से अशुभ भाषा के पुद्गल कषाय के उदय का कारण बनते हैं और अयोग्य आहार शारीरिक अशान्ति के उदय का कारण बनता है।

जीव स्वयं अज्ञान से कर्म बंध करता है, अतः उनके अच्छे या बुरे फल को भी उसे स्वयं ही भोगना पड़ता है। बाह्य सामग्री भी उसमें कारणभूत

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बनती है। शुभ के उदयकाल में स्वतः ही शुभ संयोग प्राप्त हो जाते हैं और अशुभ के उदयकाल में अशुभ संयोग खड़े हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में यदि ज्ञान दृष्टि से गहन विचार किया जाय तो हर्ष और शोक अपने आप लुप्त हो जाते हैं। उदयकाल को समभाव से भोगने में ही जीव का वीरत्व है। बाँधने में बहादुरी दिखाना और भोगने में कमजोरी दिखाना ही जीव की कायरता है। उदयकाल में ही वीरत्व की आवश्यकता है, बंधकाल में तो मात्र इतनी सावधानी की आवश्यकता है कि नये कर्म न बंध जायँ।

दु:खं प्राप्य न दीनः स्यात्, सुखं प्राप्य च विस्मितः ।
मुनिः कर्मविपाकस्य, जानन् परवशं जगत् ॥

सम्पूर्ण जगत् कर्म विपाक के अधीन है, यह जानकर मुनि दु:ख में न दीन बनते हैं और न सुख में विस्मित होते हैं। सुख-दु:ख में समभाव पूर्वक रहना ही सच्ची जीवन साधना है। सुख में उन्मत्त होना और दु:ख में निराश होना ही अज्ञान है। स्वयं द्वारा किये गये कर्म के फल को भोगने के समय दीनता क्यों? ज्ञानी तो यही सोचता है कि कर्म बांधते समय जब मैंने विचार नहीं किया, तब उसके फल को भोगने के समय दीनता क्यों दिखाऊँ? ऐसे ज्ञानी कर्म विपाक के अधीन नहीं रहते, किन्तु ऐसे ज्ञानी बिरले ही होते हैं, इसीलिये सारे जगत् को कर्म विपाक के अधीन कहा गया है।

ज्ञानी तो शुभ के उदय में भी विस्मित नहीं होता। वह तो जानता है कि तत्त्व दृष्टि से शुभ और अशुभ दोनों आत्मा को ढँकने वाले हैं। सूर्य काले बादलों में छिपे या सफेद बादलों में, उसके प्रकाश की मन्दता के तारतम्य में अवश्य अन्तर आता है, पर आखिर वह बादलों के पीछे छिपता तो है ही। इसी प्रकार शुभ और अशुभ दोनों आत्मा के गुणों को ढँकने वाले होने से अन्ततः त्याज्य ही हैं। साधक दशा में भले ही शुभ आदरणीय रहे, पर मोक्ष तो दोनों के क्षय से ही होगा। इसीलिये ज्ञानी शुभ या अशुभ किसी भी कर्म विपाक के अधीन नहीं रहते। वे तो मात्र तत्त्वचिंतन का पुरुषार्थ करते हैं और ऐसे ज्ञानी निश्चय ही परमार्थ को सिद्ध करते हैं।

कर्म विपाक कितना भी शक्ति सम्पन्न क्यों न हो, यदि जीव अपने पुरुषार्थ को जागृत करे तो वह अवश्य कर्म क्षय कर सकता है। कर्म बलवान है तो क्या हुआ? आखिर तो वह जड़ पुद्गल होने से अंधा ही है, जबकि जीव चेतना युक्त होने से दृष्टि वाला है। अंधे से दृष्टिवाला कैसे हार सकता है? यदि जीव सच्चे मार्ग से पुरुषार्थ करे तो वह अवश्य कर्म सत्ता पर विजय प्राप्त कर सकता है। जीव वास्तव में अपने स्वरूप को नहीं जानता इसीलिये कर्म

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सत्ता उस पर अपना वर्चस्व जमा लेती है और जीव ऐसा समझने लगता है मानो उसने अपना वर्चस्व खो दिया हो।

उपशम और क्षपक श्रेणी :

आरुढा: प्रशमश्रेणिं, श्रुतकेवलिनोऽपि च ।
भ्राम्यन्तेऽनन्तसंसारमहो ! दुष्टेन कर्मणा ।।

ग्यारहवें गुणस्थान उपशम श्रेणी पर चढ़े हुए श्रुतकेवली जैसे महापुरुष को भी यह दुष्ट कर्मसत्ता अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करवाती है। प्रमादवश चौदह पूर्वधारी महापुरुष भी अनंतकाल तक भव भ्रमण करते हैं। इससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि कर्म का विपाक बड़े से बड़े व्यक्ति को भी भोगना पड़ता है। 'कर्म को शर्म नहीं' यह कहावत यहां चरितार्थ होती है।

श्रेणी दो प्रकार की है, क्षपक श्रेणी और उपशम श्रेणी। आत्मा की उन्नति के क्रमश: चढ़ते हुए सोपानों को दर्शन की भाषा में चौदह गुणस्थान कहा गया है। आत्मा के अध्यवसायों की उत्तरोत्तर होने वाली विशुद्धि को श्रेणी कहा जाता है। आठवें गुणस्थान से जीव श्रेणी पर चढ़ना प्रारम्भ करता है। उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाली आत्मा मोहनीय कर्म की प्रकृतियों को उपशान्त करती जाती है, जबकि क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाली आत्मा उनका क्षय करती जाती है। आत्मा के विशुद्ध अध्यवसाय ही उसे श्रेणी पर चढ़ाते हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना से आत्मा में ऐसे शुभ अध्यवसाय उत्पन्न होते हैं। उपशम श्रेणी की अपेक्षा क्षपक श्रेणी अधिक विशुद्ध होती है।

क्षपक श्रेणी पर चढ़ी हुई आत्मा आठवें गुणस्थान से नौवें और नौवें से दशवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान पर आती है। दसवें से वह लोभ के अंशों को क्षय कर सीधे बारहवें गुणस्थान पर चली जाती है। क्षपक श्रेणी वाला ग्यारहवें गुणस्थान पर नहीं जाता। उपशम श्रेणी वाला ही ग्यारहवें गुणस्थान पर जाता है। बारहवें गुणस्थान को क्षीणमोह गुणस्थान कहते हैं। यहां पहुँचकर आत्मा इतनी विकसित हो जाती है कि वह मोहनीय कर्म को सदा के लिए समूल नष्ट कर देती है। मोहनीय कर्म का क्षय होते ही ज्ञानावरणीय आदि अन्य घाती कर्म भी नष्ट हो जाते हैं और तेरहवें गुणस्थान पर पहुँचकर केवलज्ञान प्रकट हो जाता है।

उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाली आत्मा बारहवें गुणस्थान पर नहीं जाती, वह ११वें उपशांतमोह गुणस्थान पर ही जाती है। इस गुणस्थान पर मोहनीय कर्म का उदय तो थोड़ा भी नहीं रहता, पर वह सत्ता में अवश्य रहता है। इस गुणस्थान पर चढ़ने वाले निश्चय ही एक बार फिर नीचे गिरते हैं। इस गुणस्थान को प्राप्त मुनि की यदि आयुष्य पूर्ण होने से मृत्यु हो जाय तो वह सर्वार्थ सिद्ध

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि पाँच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होता है। किन्तु इस गुणस्थान के अन्तर्मुहूर्त का काल समाप्त होने पर यदि उसकी मृत्यु हो तो वह मिथ्यात्व गुणस्थान तक भी गिर सकता है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले कई चरमशरीरी भी होते हैं। ऐसे जीव ११वें गुणस्थान से गिरकर ७वें पर आते हैं और फिर क्षपक श्रेणी प्रारम्भ करते हैं। जिन्होंने मात्र एक बार ही उपशम श्रेणी की हो, वे ही जीव दूसरी बार क्षपक श्रेणी कर सकते हैं।

क्षपक श्रेणी पर चढ़ने वाली आत्मा का सामर्थ्य अद्भुत होता है। उस की ध्यानाग्नि अत्यन्त जाज्वल्यमान होती है, जिसमें कर्मरूपी काष्ठ जलकर भस्म हो जाते हैं। आचार्य उमास्वाति ने 'प्रशमरति' शास्त्र में कहा है—

क्षपकश्रेणिमुपरिगतः, स समर्थसर्वकर्मिणां कर्म।
क्षपयितुमेको यदि कर्मसंक्रमः, स्यात् परकृतस्य॥

क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ आत्मा की ध्यानाग्नि इतनी प्रखर होती है कि यदि दूसरे जीवों के कर्मों का उसमें संक्रमण हो सकता हो तो वह अकेला सब जीवों के कर्मों के क्षय करने में समर्थ हो सकता है। किन्तु कर्म का तो नियम ही ऐसा है कि जो बांधता है वही उसे भोगता है। यदि ऐसा न हो तो कर्म सिद्धान्त में सब गड़बड़ घोटाला हो जाय और द्रव्य की स्वतंत्रता ही लुप्त हो जाय। अतः यह निश्चित ही है कि कर्ता ही भोक्ता होता है।

क्षपक श्रेणी में कषाय मोहनीय आदि कर्म प्रकृतियों का क्षय होता है, अतः इस पर आरूढ़ आत्मा का कभी पतन नहीं होता, जबकि उपशम श्रेणी में तो इन कर्म प्रकृतियों का उपशम होता है (दब जाती हैं), इसीलिये ११वें गुणस्थान से जीव निश्चय ही नीचे गिरता है। इस गुणस्थान पर कर्म प्रकृतियाँ दब जाती हैं, पर सत्ता में तो रहती ही हैं, अतः उनका उदय होने पर जीव नीचे गिरता है। इससे कर्मसत्ता के सामर्थ्य का पता लगता है। अपने स्वरूप में अत्यन्त जागृत आत्मा ही कर्मसत्ता से टक्कर ले सकती है। राख से दबी हुई अग्नि कभी न कभी तो निमित्त पाकर भड़क ही उठती है, इसी प्रकार दबे हुए कर्म भी ऐसे भड़कते हैं कि चढ़ती हुई आत्मा को भी गिरा देते हैं। विष बेल की जड़ यदि गहरी जायेगी तो उससे क्या लाभ होगा? इसी प्रकार दोषों की जड़ यदि गहरी जायेगी तो उससे आत्मा को हानि ही होगी। जैसे आँख में गिरा हुआ एक छोटा सा रेत का कण जब तक नहीं निकलता तब तक चुभता रहता है, वैसे ही हमारे दोष हमें प्रतिपल चुभते रहना चाहिये। बाह्य शत्रुओं से होने वाली हानि से तो हम सदा सावधान रहते हैं, किन्तु हमारे आन्तरिक शत्रु कषायों से इससे भी अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है। बाह्य शत्रु तो अधिक से अधिक एक जन्म ही बिगाड़ेंगे किन्तु कषाय रूपी अंतरंग शत्रु तो जन्म-

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जन्मान्तरों को बिगाड़ देते हैं। उपशम श्रेणी पर आरूढ़ जीव को भी ये दुष्ट कर्म अनन्त काल तक संसार में भटकाते हैं।

कर्म विपाक का सीधा सादा अर्थ यह है कि संसार में जो पग-पग पर विषमता दिखाई देती है, वह सब कर्म द्वारा ही उत्पन्न की गई है। एक उत्तम कुल में तो दूसरा अधम कुल में उत्पन्न होता है; एक ज्ञानी, दूसरा अज्ञानी; एक दीर्घ आयुष्य वाला, दूसरा अल्प आयुवाला; एक बलवान, दूसरा निर्बल; एक ऐश्वर्यवान, दूसरा निर्धन; एक रोगी, दूसरा निरोगी; इन सभी कर्मजन्य विषमताओं पर विचार करने पर ज्ञानी व्यक्ति को संसार से वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता।

कर्म विपाक के फलस्वरूप दंड प्राप्त करने पर ऐसा सोचना कि हम से कर्म हमारे पाप का बदला ले रहा है, गलत धारणा है। हम अपने पाप कर्म द्वारा ही दंड प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार पुण्य कर्म का उपभोग करते समय ऐसी सोचना कि हमारे अच्छे कार्यों के बदले में कर्मसत्ता हमें सुख दे रही है, भी गलत है। अच्छे कार्य स्वयं ही हमें सुखानुभाव कराते हैं। दंड या पुरस्कार अथवा सुख या दुःख हमारी वृत्ति के हो परिणाम हैं। हमारी वृत्ति या चारित्र हमारी इच्छाओं का ही एकत्रित स्वरूप है। इच्छा ही कर्भ की प्रेरक सत्ता है और इच्छा या वासना द्वारा ही हम अपने भावी जीवन को निश्चित करते हैं। अतः हमारी इच्छा के विरुद्ध हमारा भविष्य निर्मित नहीं हो सकता।

अनेक सुख-दुःखों को भोगने के बाद ही आत्मा में वासना के दुःखद परिणाम को समझने की निर्मल विवेक दृष्टि जागृत होती है। फिर वह उच्च जीवन की ओर आकर्षित होती है। अपने हृदय के ऊर्ध्वगामी वेग में वह अपनी गति मिला देती है। आत्मा की स्वाभाविक गति अग्निशिखा की भांति ऊर्ध्वगामिनि है, अतः यह सब समझने के बाद वह अपनी स्वाभाविक गति को उचित दिशा में मुक्त कर देती है।

आत्मा की इच्छा के बिना कोई भी सत्ता उसे तिलमात्र भी इधर-उधर नहीं कर सकती। जीव अपनी इच्छा से ही नया जन्म पाता है। इस नये जन्म के संयोग, परिवार, सगे-सम्बन्धी भी उसकी इच्छानुसार ही मिलते हैं। उसकी अतृप्त वासना जहां वैसे संयोग जुटा सके, वैसे स्थान में ही वह जन्म लेती है। यह सत्य है कि इन इच्छाओं या वासनाओं को आत्मा समझपूर्वक नहीं बनाती, वे सब उसके अन्तःकरण में अव्यक्त रूप से होती हैं।

जिनमें बहुत उत्कृष्ट कला में विकसित आत्मभान होता है, वैसी आत्माएँ अपना पुनर्भव दृढ़संकल्प से निश्चय करती हैं, क्योंकि उन्हें यह भान होता है कि

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उनकी इच्छाएँ किस दिशा में गति कर रही हैं। जिन-जिन इच्छाओं के द्वारा हमें संसार में आना पड़ता है, वे सभी अशुभ नहीं होतीं। कितनी ही इच्छाएँ तो ऐसी उत्तम और भव्य होती हैं कि उनका विषय प्राप्त हो जाने के बाद जीवात्मा अपना स्वरूप ईश्वरत्व में परिणित करने में समर्थ बन जाती है।

यह सब कर्मराज द्वारा रचित नाटक है, जिसमें चौरासी प्रकार के रंग-मंडप हैं और यह जीवात्मा विविध प्रकार के पात्रों के रूप धारण कर इसमें खेल खेल रहा है। कर्मराज के इस नाटक का सम्पूर्ण वर्णन करने में हम असमर्थ हैं। सद्गुरु के समागम से कर्म के स्वरूप और कर्म विपाक को समझ कर जो जीवात्मा कर्म निर्जरा के लिये प्रबल पुरुषार्थ करता है, वह अन्त में इस संसार सागर को पार कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

करम को अंग

करमां की बेड़ी बणी, सबही जग कै मांय।
रामदास झाड़ी सजड़, मोह कि झाट लगाय ॥१॥

रामा राम न जानियो, रह्या करम में फँस।
करम कुटी में जग जल्या, काल गया सब डंस ॥२॥

करम कूप में जग पड़्या, डूबा सब संसार।
रामदास से नीसर्‍या, सतगुरु सबद विचार ॥३॥

रामा काया खेत में, करसा एको मन्न।
पाप पुंन में बंध रह्या, भरया करम सूं तन्न ॥४॥

करम जाल में रामदास, बंध्या सब ही जीव।
आसपास में पच मुवा, बिसर गया निज पीव ॥५॥

करम लपेट्या जीव कूं, भावै ज्यूँ समझाय।
रामदास आंकर बिन, कारी लगै न काय ॥६॥

—स्वामी रामदास

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org